



चितकोहरा पुल के नीचे

यशस्वी द्विवेदी

पटना में चितकोहरा ब्रिज के नीचे नट और गुलगुलिया समुदाय की बसाहट है। किसी समय यहाँ पर जंगल, घने वृक्ष और सन्नाटे का बसेरा था लेकिन पुल बनने के बाद कई समुदायों ने यहाँ आश्रय लिया। चितकोहरा पुल के नीचे नट और गुलगुलिया समुदाय की संख्या लगभग 600 के आसपास है। समुदाय के बड़े-

बूढ़े लोगों से बात करने पर मालूम हुआ कि इनमें से कुछ बिहार के अलग-अलग सुदूर गाँवों से निकलकर यहाँ आए हैं, तो कुछ जंगलों से। चितकोहरा पुल के नीचे शासन द्वारा कुछ मकानों का निर्माण 15-20 साल पहले कराया गया था जो आज काफी जर्जर हालत में हैं। मूलभूत ज़रूरतों की बात करें तो यहाँ न तो कोई स्थाई नल है, न

हैंडपम्प और न ही टॉयलेट। पीने का पानी अलग-अलग जगहों से लाना पड़ता है। बसाहट के 80 प्रतिशत लोग इन्हीं सुविधाओं पर निर्भर हैं। ज़िन्दा रहना है, परिवार चलाना है तो परिवार के पाँच साल के बच्चे से लेकर बूढ़े सदस्य को भी रोज़ी के लिए घर से बाहर निकलना पड़ता है।

इस समुदाय के जीविकोपार्जन में पारम्परिक रूप से चिड़िया मारना, शहद निकालना-बेचना, ढोलक और मंजीरे जैसे वाद्य-यंत्रों से मनोरंजन के लिए संगीत सुनाना जैसे काम शामिल हैं।

अपने मूल इलाकों को छोड़कर पटना जैसी शहरी रिहाइश में पारम्परिक काम करके रोज़ी जुगाड़ना खासा मशक्कत भरा काम है। पटना के भीतरी इलाकों में हर सुबह 5 बजे से दोपहर-शाम तक ऐसे पेड़ और घरों की तलाश करते हैं जहाँ इन्हें मधुमक्खी का छत्ता मिल जाए।

यदि किसी घर या अपार्टमेंट में मधुमक्खी का छत्ता मिला तो मकान मालिक से निवेदन करके छत्ते को निकालकर आधा हिस्सा मकान मालिक को देते हैं और बाकी आधे हिस्से का समूह के लोगों के बीच बँटवारा हो जाता है या शहद बेचकर मिले पैसों को आपस में बाँट लेते हैं।

इनके संगीत से किसी का मनोरंजन हो सके वो स्थिति भी लगभग समाप्त हो चुकी है। इस हुनर का उपयोग अब अपने समुदाय में होने वाले

कार्यक्रमों तक ही सीमित रह गया है।

रोज़ी-रोटी के लिए ज़रूरत और समय के अनुसार समुदाय के कुछ लोग कभी शादी-विवाह में लाइट उठाने का काम, बर्तन धोने का और मज़दूरी का काम करते हैं। कुछ लोग छोटे-छोटे खाने-पीने के सामान जैसे चाय, समोसा-पकोड़ी, बच्चों के खाने-पीने का सामान, टॉफी इत्यादि की दुकान लगाते हैं। समुदाय के कुछ परिवार बकरी पालन भी करते हैं जिसके माध्यम से वे अपनी निजी ज़रूरतों को पूरा कर सकें। समुदाय में कुछ परिवारों के पुरुष ठेला-रिक्शा चलाते हैं मगर उनकी संख्या बहुत कम है। मैंने पाया कि रोज़ी-रोटी के इन सब विकल्पों के बीच शहद बेचना इनका सबसे ज़्यादा प्रचलित काम है।

इस समुदाय की विशेषता है कि महिला व पुरुष, दोनों मिलकर घर सम्भालते हैं। यदि महिला किसी काम में व्यस्त है तो खाना पकाना, बर्तन धोना, बच्चों की देखभाल आदि काम पुरुष करते हैं। इसी क्रम में समुदाय के पंचों, पंचायत का निर्णय और मुखिया का निर्णय बहुत बड़ी भूमिका निभाता है। लड़का हो या लड़की 12-14 वर्ष तक की आयु में विवाह करवाना आवश्यक है।

वातावरण का प्रभाव ऐसा है कि 8-9 साल के बच्चों में खुद ही यह भावना आ जाती है कि हम जवान हो रहे हैं। और लड़कियों का अकेले बाज़ार जाना, देर तक टी.वी. देखना, लड़कों

से बात करना आदि पर रोक लगा दी जाती है।

परिवार की बढ़ती ज़रूरतों और पैसे की कमी के बीच आर्थिक असन्तुलन का पलड़ा जब भारी होने लगा तो इस समुदाय के लोग हताश होने लगे और दूसरों पर निर्भरता ही एक मात्र विकल्प दिखने लगा। धीरे-धीरे यह पर-निर्भरता उन्हें भिक्षावृत्ति तक ले आई। ज़रूरतों को पूरा करने के लिए अब ये अन्य शहरों एवं राज्यों में समयानुसार पलायन करने लगे हैं।

आज जहाँ शिक्षा, स्वच्छता, स्वास्थ्य एवं विकास के नारे ज़ोर-शोर से लगते हैं, इस समुदाय के लिए इनका कोई महत्व नहीं है, कोई प्राथमिकता नहीं है। मौजूदा सामाजिक ढाँचे में यह सब इस समुदाय तक पहुँचता ही नहीं है।

ऐसी स्थिति में इस समुदाय को भिक्षावृत्ति से निकालने और मुख्य धारा से जोड़ने के लिए शिक्षा, रोज़गार व जीविकोपार्जन के लिए अन्य विकल्पों की ओर मोड़ना आवश्यक लगता है। न जाने कब से शिक्षा से वंचित इन पीढ़ियों के लिए शायद शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम हो सकता है जिनसे कुछ और सम्भावनाएँ और रास्ते खुल सकते हैं।

बच्चों के साथ काम की तैयारी

काम शुरू करने के पहले दिन से लेकर चार महीनों तक का सफर अपने आप में अद्भुत था। समुदाय में शुरू

में तो प्रत्युत्तर कम ही था। बच्चों के साथ रिश्ता बनाना पहली सीढ़ी बनी, लगभग 50 बच्चों की ऐसी टोली थी जो खुद-ब-खुद मेरे साथ चलने लगती। ये अब टीम थी मेरी। टीम के आपस में घुलने-मिलने की प्रक्रिया में बालगीत व खेल सहायक माध्यम तो साबित हुए लेकिन किसी भी खेल या गतिविधि को नियत समय में पूरा करवाना खासा मुश्किल होता था; क्योंकि बच्चों की संख्या ज़्यादा होने से इतना शोर व अस्त-व्यस्तता रहती थी कि बच्चों को थोड़ा शान्त करना ताकि वे मेरी बातें सुन सकें, भी मुश्किल था।

गतिविधियों के दौरान आने वाली दिक्कतों के अलावा कुछ और चुनौतियाँ भी थीं। जैसे:

- बच्चों के आपसी मतभेद।
- बच्चों के माता-पिता व पड़ोसियों के आपसी झगड़ों का बच्चों पर असर।
- कई बच्चों द्वारा अलग-अलग सवाल एक साथ पूछना व सन्तुलित क्रम में उनके जवाब दे पाना (किस बच्चे के सवाल का जवाब पहले दिया जाता है उसी आधार पर बालमन पर प्रभाव पड़ने लगता है। वो ऐसे कि - आप उसे ज़्यादा मानती हो। इस आधार पर बच्चे अपना समूह बनाकर अलग चले जाते)।

बच्चों के साथ उनकी पहेलियाँ, सवाल एवं आपसी झगड़े सुनते-सुलझाते बहुत अर्थपूर्ण व गहरा रिश्ता बनने लगा।

माता-पिता को उनके बच्चे के बारे



में यह बताना कि उनके बच्चे में क्या अच्छा है, क्या और भी अच्छा करने की ज़रूरत है - एक ऐसा माध्यम साबित हुआ कि पालक अब मुँह फेरने की बजाय बातें सुनने लगे।

स्कूल से गिला-शिकवा

काफी प्रयास के बाद समझ में आया कि बच्चों के माता-पिता के साथ संवाद करना ज़रूरी है चूँकि उनके अपने तर्क थे कि वे बच्चों को स्कूल क्यों नहीं भेजते:

- स्कूल में शिक्षक अन्य बच्चों की गलती की सज़ा हमारे बच्चों को देते हैं (चूँकि जो भी दो-तीन बच्चे काफी पहले कभी स्कूल गए थे वहाँ ऐसा होते हुए देखा गया था)।
- स्कूल में दो ही शिक्षक होते हैं, एक

ही कक्षा में छोटे-बड़े सब बच्चे बैठते हैं। लड़ाई ज़्यादा होती है, पढ़ाई कुछ नहीं होती (वहाँ बैठने से अच्छा है कि बच्चा कमाकर लाए और काम का हिसाब-किताब सीख जाए)।

- बच्चा चाहे रोड पर दौड़े, चाहे मारपीट करे, शिक्षकों को स्कूल में बस शोर न हो इसकी चिन्ता है, बच्चों की नहीं (चूँकि वह स्कूल मेनरोड पर ही बना है, वाहनों की आवाजाही भी ज़्यादा है)।
- शिक्षक व प्राचार्य कभी नहीं समझेंगे कि हमारी क्या दिक्कतें हैं।
- हमने (माता-पिता) भी पढ़ाई इसलिए छोड़ी थी कि बिना गलती के बचपन में बहुत मार पड़ती थी। और ऐसी ही बहुत-सी बातें।

उपरोक्त बिन्दुओं पर पालकों से वन-टू-वन बातचीत काफी सहायक साबित हुई। बाद में पालकों के साथ सामूहिक काउंसिलिंग में भी खुलकर बातचीत हो पाई।

पालकों के साथ काउंसिलिंग में यह बात सामने आई कि बच्चे को कौन-सा साहब बनना है। मैंने उनसे कहा, “एक मिनट के लिए अपनी आँखें बन्द करके सोचें और फिर बताएँ कि अपने बच्चे को किस तरह बड़ा होते हुए देखना चाहते हैं।” इसका काफी पालकों पर सकारात्मक असर पड़ा। भावुक होकर कई पालकों ने कहा कि वे अपने बच्चे का बेहतर भविष्य चाहते हैं।

इसी तरह स्कूल में बच्चे यूनिफॉर्म में जाएँ, थोड़ा साफ-सफाई का ध्यान

रखें तो क्या बच्चों के बीच दिखने वाला या किया जाने वाला अन्तर कम नहीं किया जा सकता? काफी पालक इस दलील से सहमत-से दिखे। ऐसे कुछ अनुभव मुझे राहत देते दिख रहे थे।

इन सारी बातों को सुनकर उनकी सोच या फिर मेरी बात न समझ पाने की वजह समझ आ रही थी। वहीं एक बड़ा गैप शाला और समुदाय के बीच संवाद की कमी और एक-दूसरे के प्रति बनी धारणाओं का था।

इन सारे कारणों को चिन्हित करने और सहकर्मियों से बातचीत से स्पष्ट हुआ कि अब बारी है स्कूल के प्रधानाचार्य के साथ बात करने की और उपरोक्त बातों तथा अवलोकनों को साझा करने की।



स्कूल और समुदाय को करीब लाना

प्रारम्भिक स्कूल विज़िट में मैंने प्रधानाचार्य तथा शिक्षकों से बात की और नट-गुलगुलिया समुदाय के बच्चों के साथ चल रहे काम को साझा किया। चार में से तीन स्कूलों में शुरुआत में काफी सकारात्मक सहयोग देने की बात हुई।

लेकिन जब बताया गया कि इन बच्चों का स्कूल में एडमिशन करवाना है तो सब शिक्षक कुछ समय के लिए मौन हो गए। इस मौन की भी कुछ वजह थीं -

- ये बच्चे कभी भी नहीं पढ़ सकते।
- माता-पिता को इनकी कोई चिन्ता नहीं है।
- ये बहुत ज़्यादा गन्दगी में रहते हैं। चिड़िया मारते हैं।
- ये बच्चे सड़कों पर व स्कूल के बाहर भिक्षावृत्ति करते हैं।
- इनको एक जगह बैठाकर रखना असम्भव है।
- स्कूल के बच्चे इन्हें कभी नहीं अपनाएँगे या शामिल करेंगे।

आखिर में मुझे कहा गया, “आप एडमिशन के अलावा हमसे जो भी मदद चाहती हैं, हम तैयार हैं, मगर एडमिशन नहीं।”

उस समय आर.टी.ई., बच्चों की शिक्षा का अधिकार - ये सब बातें करने की सोचना ज़रा भी फायदेमन्द नहीं लगा।

कुछ सोचने के बाद मैंने उनसे

कहा, “मैडम, मैंने आपके साथ अपना काम शेयर किया है। यदि आप मेरी सहायता करना चाहती हैं तो एडमिशन से पहले एक बार समुदाय में चलिए।” किन्तु यह तो और भी बड़ी बात थी क्योंकि समुदाय में जाना उनके लिए और भी भयावह बात थी।

एडमिशन के पीछे की सोच

इस पर काफी चर्चा करने के बाद मेरी तरफ से कुछ बिन्दु प्राचार्य के सामने रखे गए।

- सर, बच्चों का नामांकन तो उनका अधिकार है और हम दोनों यह भली-भाँति समझते हैं। लेकिन मैं अभी तुरन्त बच्चों के नामांकन की बात नहीं कर रही हूँ। जब हमारी कक्षा में आने वाले बच्चे खुद को एक जगह देर तक न रोक सकें, कुछ समय तक बैठ न सकें, मैं भी उन्हें स्कूल तक आने के लिए नहीं कहूँगी। साथ ही मुझे विश्वास है कि ये बच्चे कुछ ही समय में बैठना सीख जाएँगे। लेकिन क्या स्कूल की ओर से भी यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि बच्चे अपनी मर्जी से जितनी देर चाहे बैठ सकते हैं, और उनका मन भी लगा रहे? क्योंकि यदि बच्चे को अच्छा लगेगा तो वह खुद ही स्कूल आएगा।
- अभी से ही क्यों मान लें कि स्कूल के अन्य बच्चे उनको समूह में शामिल नहीं करेंगे? अगर हम यह बात बच्चों पर ही छोड़ दें तो कितना

अच्छा होगा। बच्चों के लगातार स्कूल आने के मुद्दे पर भी हम काम कर रहे हैं।

- सर, जब बच्चा स्कूल की वेश-भूषा में विद्यालय आएगा तो अन्य बच्चों से अलग दिखने की गुंजाइश भी नहीं रहेगी।

इन सारी बातों का कुछ तो असर हुआ और अन्ततः प्रधानाचार्य ने सकारात्मकता दिखाई।

एक बात जो चर्चा में उभरी कि विभिन्न शिक्षक-शिक्षिका और प्रधानाचार्य भी अपने विद्यालय में ऐसा कुछ करना चाहते हैं लेकिन इसके लिए ज़रूरी विभिन्न पहलुओं पर काम नहीं किया गया है।

इसके बाद धीरे-धीरे उनसे यह बात शेयर की गई कि समुदाय के बच्चे स्कूल क्यों नहीं आते। शिक्षक-शिक्षिकाओं ने उन कारणों को जानने के बाद कहा - जिस भी माध्यम व योजना के ज़रिए हो वे बच्चों और माता-पिता के साथ काम करके, उनको शिक्षा से जोड़ने व बेहतर विकल्प उपलब्ध कराने के प्रयास करना चाहते हैं।

तीसरा कदम

अब मैंने शिक्षकों से आग्रह किया, “क्या मैं स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों के साथ कुछ काम कर सकती हूँ ताकि नुक्कड़ नाटक के माध्यम से शाला व समुदाय को नज़दीक ला सकूँ?” शिक्षकों ने इसके लिए सहर्ष हामी भरी।

इसके पश्चात:

- शिक्षक-शिक्षिकाओं के साथ मीटिंग में उद्देश्य साझा किया गया।
- कक्षा 6, 7, 8 के बच्चों के साथ बातचीत की गई और उनसे सहयोग मांगा गया (यह पल बहुत ही खूबसूरत था। मेरे मन में एक हिचक थी कि बच्चे मेरी बात को कहाँ तक समझ पाएँगे। लेकिन जिस तरह से बच्चों के जवाब आए वो अनअपेक्षित थे।)।

इन बच्चों में से कुछ ने कहा, “अगर हम बच्चे दूसरे बच्चे के काम नहीं आएँगे तो कोई और क्यों सोचेगा।”

इस सारी प्रक्रिया और बातों को स्कूल के प्रधानाचार्य व शिक्षकों से साझा किया गया।

स्कूल खत्म होने के बाद 21 बच्चे स्कूल में रुकते थे। हमने ‘स्कूल क्या’ विषय पर मिलकर नुक्कड़ नाटक तैयार किया। उधर समुदाय के लोगों को सूचना दी जा रही थी कि नुक्कड़ नाटक का प्रदर्शन होने वाला है। बारह दिन के लगातार अथक प्रयास के बाद वह दिन आ गया जब हम तैयार थे।

स्कूल से शिक्षक, बच्चे और प्रधानाचार्य - सब चितकोहरा पुल के नीचे समुदाय तक आए।

सार्थक संवाद

- सारे बच्चे स्कूल ड्रेस में होने के कारण बड़े प्रभावकारी तरीके से लोगों का ध्यान खींच रहे थे।

- प्रधानाचार्य को समुदाय में आए देखकर वहाँ के लोगों को लगा कि स्कूल चाहता है कि हर बच्चा स्कूल में हो।
- माता-पिता के अनेक सवाल जिनका जवाब अब तक एक ही व्यक्ति से मिलता था, आज वे दूसरों को भी उसमें शामिल देख रहे थे, सवाल का जवाब सुन पा रहे थे। लड़का-लड़की में समानता, लड़की को आगे बढ़ाने की ज़रूरत, स्कूल में करवाई जा रही गतिविधियों के विषय में स्कूल में बच्चा क्या सीख सकता है, कमाई सीखने के गुर स्कूल जाने से कैसे बेहतर हो सकते हैं आदि।

स्कूल की बच्चियों ने शिक्षा के महत्व के साथ-साथ जो बच्चे स्कूल नहीं जा पाते उन्हें कैसा लगता है, किन वजहों से बच्चे के माता-पिता बच्चों को स्कूल नहीं भेज पाते, कैसे इनका समाधान निकाला जा सकता है, बच्चों के सपने जैसे बिन्दुओं को भी नुककड़ नाटक में शामिल किया था। सभी को बच्चों द्वारा बनाई गई कलात्मक चीज़ें भी दिखाई गईं।

इसका प्रभाव बच्चों के साथ-साथ उनके माता-पिता, बड़े-बूढ़ों पर भी काफी पड़ा। अगले दिन बच्चों के भीतर स्कूल जाने की ललक से भरे काफी सवाल थे। बच्चों के माता-पिता नुककड़ नाटक और उसमें उठाए गए मुद्दों की प्रशंसा कर रहे थे।

इस प्रकार सकारात्मक वातावरण

तैयार हुआ। ये बहुत बड़ी जीत थी क्योंकि अब समुदाय का कोई व्यक्ति अपने बच्चों को कक्षा में से अचानक उठाकर नहीं ले जाएगा।

दूसरी समस्या आई कि समुदाय में कक्षाएँ स्थाई रूप से कहाँ चलाई जाएँ। ऐसी कोई जगह सूझ नहीं रही थी। धीरे-धीरे फ्लाई ओवर के नीचे बने मकानों की छत पर हमने कक्षा की शुरुआत की। सीढ़ी की सहायता से ऊपर चढ़ना, फिर पढ़ना, खेलना, कविताएँ, खिलौने बनाना, कहानियाँ सुनना-सुनाना, दूर बने तालाब के पास जाकर बच्चों के साथ देखना कि वे लकड़ी कहाँ से लाते हैं, मछली कैसे पकड़ते हैं, बच्चों के सपनों के बारे में बात करना वगैरह-वगैरह। यह सब कुछ हम करते थे।

धीरे-धीरे बच्चे अपने अनुभव एवं खुशी को अपने परिवार के साथ साझा करने लगे। कभी कोई बच्चा रात में दिए की रोशनी में चित्र बना रहा होता तो उसके घर वालों के लिए यह एक सुखद क्षण होता। कुछ समस्याएँ भी साथ-साथ चल रही थीं जैसे छत पर पढ़ाने से एक डर बना रहता कि कोई बच्चा गिर न जाए इसलिए काफी एहतियात बरतना होता था। इसी तरह बच्चों के बीच लड़ाई को सुलझाना, माता-पिता की चिन्ताओं को बेफिक्री में बदलना और ऐसा ही बहुत कुछ।

हर सिक्के के दो पहलुओं की तरह यहाँ भी दूसरा पहलू देखने को मिला। उपरोक्त बातों को देखकर समुदाय में

कुछ पालकों ने अपने घर के सामने की थोड़ी जगह पढ़ाने के लिए दी। फिर भी दो महत्वपूर्ण बिन्दु थे:

- बच्चों की स्थान को लेकर सहमति।
- अन्य पालकों की काउंसिलिंग और आमने-सामने बातचीत (कुछ पालकों का मानना था कि जिस घर के साथ हमारा झगड़ा है, हमारे बच्चे उन घरों में नहीं जाएँगे)।

इस दूसरे मुद्दे पर बच्चों ने पूरी ज़िम्मेदारी लेते हुए अपने घर में बात की। बच्चे खुद ही बच्चों को समझा रहे थे। अन्ततः पालक भी इस बात को समझ पाए कि आपसी झगड़ा और बच्चों की पढ़ाई को मिलाकर देखना उचित नहीं है। इससे शायद यह फायदा भी हुआ कि लोगों के झगड़े कुछ कम होने लगे।

अब हर रोज़ बच्चों को इकट्ठा करना और हर रोज़ की जगह की तलाश खत्म हुई। बच्चे पूरी कोशिश में थे कि वे सबसे ज़्यादा साफ-सुथरे लगे जो कि हमारी कक्षा की गतिविधि का हिस्सा भी था। इस सारी प्रक्रिया को बच्चों के सीखने और उनके बारे में बात करने के क्रम में रखा गया था, जिसमें रंग, संख्या, अनुपात, हिसाब, समूह का महत्व, आदतें आदि बातें शामिल थीं।

तमाम चुनौतियों के बीच उम्मीद की ऊर्जा संचालित थी। इसी सिलसिले में स्कूल में बच्चों का दाखिला करवाने का समय आ गया था।

पालकों की भागीदारी

प्रधानाचार्य के साथ एक मिटिंग के दौरान पालक-शिक्षक बैठक करवाने की बात हुई, जिस पर उन्होंने सहमति दी। यहाँ भी एक चुनौती थी कि ज़्यादा-से-ज़्यादा पालक एक ही समय पर आ पाएँगे या नहीं क्योंकि उनका काम पर जाने का समय अलग-अलग था। समुदाय में जाकर इस मुद्दे पर बात की तो पालकों ने आने का आश्वासन दिया और अगले दिन आने की बात कही।

दूसरे दिन जब वहाँ पहुँची तो देखा काफी लोग तो रोज़ी-रोटी के लिए निकल चुके थे और जो थे वो किसी-न-किसी काम में व्यस्त थे तथा न आने की वजह बताने लगे।

इस बारे में स्कूल में प्रधानाचार्य से बात करने पर उन्होंने किसी अन्य दिन बैठक का विकल्प सुझाया। इस तरह तीन बार हर चीज़ का ध्यान रखते हुए भी जो भी मीटिंग का दिन-समय मुकर्रर किया गया पालक उपस्थित नहीं हुए। ऐसा लगने लगा था कि मैं अपनी बात पालकों तक नहीं पहुँचा पा रही हूँ।

तब अपने बनाए गए भरोसे और ज़िम्मेदारी साझा करने वाले रिश्ते पर भरोसा रखकर मैंने पालकों से खुलकर बातचीत की। इस बातचीत में मेरी निराशा, मेरा गुस्सा भी शामिल था (हालाँकि, एक भय व संकोच की भावना भी थी कि क्या सही होगा)। उस



नट और गुलगुलिया समुदाय के बच्चे मिल-जुलकर विभिन्न प्रकार की गतिविधियाँ करते हुए।

बातचीत के दो दिन बाद पाँच लोग मेरे पास आए और कहा, “मैडम, कल का समय फिक्स कर दीजिए। हम सब कल काम से छुट्टी लेंगे और स्कूल चलेंगे।” यह सुनकर एक ओर तो मुझे खुशी हुई साथ ही, उनके रोज़गार के नुकसान के बारे में सोचकर दिल भर आया।

खैर, अगले दिन तीन बजे तक काम से वापस आने का प्रस्ताव रखा गया। सबको यह बात पसन्द आई। उसी दिन विद्यालय में भी अगले दिन की मीटिंग की बात बताई। हालाँकि, स्कूल का स्टाफ थोड़ा शंकित था क्योंकि इससे पहले तीन बार बैठक स्थगित हो गई थी। फिर भी प्रिंसिपल सर ने सहमति दी।

लगातार मन में चल रहा था कि क्या कल वाकई सब लोग इकट्ठा होंगे। मगर फिर भी प्राचार्य से मिलकर हमने मीटिंग की प्लानिंग की, जिसमें निम्न बिन्दुओं को शामिल किया:

- माता-पिता, परिजन खुद को सहज महसूस करें (क्योंकि इससे पहले वे कभी स्कूल नहीं आए थे)।
- वे अपनी बात को सहजता से रख सकें ऐसा वातावरण तैयार हो।
- पालक अपने सवाल पूछ सकें।
- स्कूल के मायने को वे स्कूल से जोड़कर देख सकें।
- खुद को सम्मानित महसूस करें।

शिक्षकों ने आश्वासन दिया कि इन सभी बातों का ध्यान रखा जाएगा।

समुदाय के लोगों से जाकर मिली तो सारे बच्चे साफ-सुथरे कपड़ों में थे। पूछने पर पता चला कि पापा-मम्मी ने कहा है कि उनके साथ स्कूल जाना है।

मैं भी काफी उत्साहित थी। धीरे-धीरे घड़ी की सुई तीन पर पहुँची। मेरी नज़र सड़क पर थी। कोई आ रहा है क्या। थोड़ी देर में लोगों का आना शुरू हुआ। एक खुशी भरी मुस्कान के साथ। आश्चर्यजनक था कि साढ़े तीन बजे मैं 18 पालकों के साथ खड़ी थी। कुछ मुँह धोकर आ रहे थे, कुछ कपड़ों के साफ-सुथरेपन के बारे में शंकित थे, कुछ चप्पल न होने को लेकर परेशान।

समस्या तो आ रही थी लेकिन समाधान के साथ। बच्चे मिलकर समाधान कर रहे थे। जैसे कोई दादी की चप्पल, बड़ी बहन की चप्पल लाकर दूसरों को पहनने के लिए दे रहा था - इस हिदायत के साथ कि वापिस आकर धोकर लौटाना। इस तरह अनजाने में ही समुदाय के लोग करीब आते जा रहे थे।

बड़े समूह के साथ जब हम स्कूल पहुँचे तो शिक्षक, प्राचार्य तथा अन्य बच्चे बहुत खुश हुए। मीटिंग के लिए सभी पालक एक साफ-सुथरी कक्षा में बेंच पर बैठे। इस कक्ष में स्कूली बच्चे हारमोनियम, तबला, मंजीरे के साथ मौजूद थे।

स्वागत गीत, एक-दूसरे का परिचय,

उनके प्रयास की प्रशंसा के साथ हमने बैठक की शुरुआत की।

- शिक्षा के प्रति पालकों के विचार।
- बच्चों को स्कूल क्यों भेजें।
- बच्चों द्वारा स्कूल में सीखने के अनुभवों की शेरिंग।
- पालकों को मीटिंग में खुलकर बोलने के लिए प्रोत्साहित किया गया।

यहाँ बातचीत के एक-दो उदाहरण दे रही हूँ ताकि समुदाय के साथ काम करने की जटिलताओं को समझा जा सके।

बच्चों को स्कूल भेजने को लेकर एक अभिभावक ने कहा, “साहब, अगर पेट नहीं भरेगा तो स्कूल में कैसे बैठ पाएगा। जब तक हम सब मिलकर नहीं कमाते, पूरा नहीं पड़ता।”

शिक्षक ने भी पूरी संवेदनशीलता से कहा, “मैं आपकी बात से पूरी तरह सहमत हूँ। यह जीवन की एक बड़ी सच्चाई है। लेकिन हम सभी को ज़िम्मेदारियों को तो निभाना ही होता है। बच्चों को स्कूल भेजने से कुछ मदद तो शासन की ओर से ही मिल जाती है।”

एक दूसरे शिक्षक ने पालकों को बताया, “शासन की तरफ से स्कूल में दोपहर के भोजन की व्यवस्था है। बच्चों को स्कूल भेजने पर आपको बच्चों की चिन्ता की ज़रूरत नहीं होगी, 4-5 घण्टे बच्चा स्कूल में होगा तो कुछ सीखेगा ही। स्कूल में नाम लिखवाने के बाद बच्चों को यूनिफॉर्म,

किताबें, छात्रवृत्ति, पहचान पत्र, बैंकखाता जैसी कई सुविधाएँ मिलती हैं।”

ऐसी कई बातें पालकों से सार्थक बातचीत में सहायक साबित हुईं।

अगला मुद्दा था बच्चों के आपसी लड़ाई-झगड़े का। कुछ पालकों ने कहा कि उनके बच्चों का कुछ दूसरे बच्चों से झगड़ा होता है इसलिए उनके बच्चों को अलग बिठाया जाए।

एक बार फिर शिक्षकों ने कहा, “बच्चों को बच्चे इसलिए कहते हैं क्योंकि वे बहुत सोच-समझ कर लड़ाई नहीं करते। बच्चे हैं, उन्हें समस्या सुलझाने, दोस्ताना रिश्ते बनाने दीजिए। इसके लिए परिवार क्यों लड़ने लगें?”

कुल मिलाकर मुद्दे सुलझते नज़र आ रहे थे।

इस दो घण्टे की मीटिंग का प्रतिफल सार्थक रहा। पालकों के लिए यह एक यादगार मौका था। उन्होंने बच्चों को स्कूल भेजने का मन बनाया।

कुछ दिनों के बाद स्कूल में बच्चों का दाखिला शुरू हुआ। हमारी कोशिश होती थी कि दाखिले के समय बच्चों के साथ उनके पालक स्कूल अवश्य आएँ। शुरुआत में थोड़ी मुश्किल हुई लेकिन जल्द ही अन्य पालकों को ऐसा करता देखकर सभी पालक स्कूल आने लगे।

उद्देश्य भी यही था कि माहौल ऐसा बने जहाँ वे आत्मनिर्भर रहें।

धीरे-धीरे सभी पालक अपने-अपने

बच्चों की जिम्मेदारी लेना समझ गए। कब कपड़ा गंदा है, कब स्कूल भेजना है, किसी दिन बच्चा स्कूल में अनुपस्थित रहेगा आदि के बारे में वे बिना पूछे ही खुद से कारण बता देते हैं। और सबसे बड़ी बात कि वे अपने बच्चों का अब अन्य कामों की बजाय स्कूल में होने का सपना देखने लगे।

इस तरह थोड़े और सपोर्ट से वो किसी भी काम के लिए स्कूल जाने में

नहीं झिझकते।

इस पूरी प्रक्रिया में बच्चों की समझ के साथ-साथ उनकी पारिवारिक दिक्कतों को समझना व उनके समाधान की कोशिश सबसे कारगर साबित हुई। अभी तक कुल 51 बच्चों का नामांकन करवाया जा चुका है। कभी-कभी विषम परिस्थितियों में ही वे स्कूल नहीं जाते वरना स्कूल जाना अब उनकी प्राथमिकता में शामिल हो गया है।

* विशेष आभार - यह कार्य मैंने कोशिश-टाटा सामाजिक विज्ञान संस्थान में कार्य करने के दौरान किया। इस प्रोजेक्ट में मुझे कोशिश संस्था, शिक्षकों व समुदाय से मदद मिली। इनमें प्रमुख रूप से मोहम्मद तारिक कुरैशी, अमर कुमार, कमलेश कुमार, अरुण कुमार राय, उदय कुमार व प्रमिला कुमारी का सहयोग उल्लेखनीय है। मैं इन सभी की आभारी हूँ।

यशस्वी द्विवेदी: इलाहाबाद विश्वविद्यालय से पत्रकारिता और मास-कम्युनिकेशन में पोस्ट ग्रेजुएशन करने के बाद कैवल्य एजुकेशन फाउंडेशन, अहमदाबाद और कोशिश-टाटा सामाजिक विज्ञान संस्थान के साथ सरकारी विद्यालयों, प्रधानाचार्य के नेतृत्व विकास और कम्युनिटी के साथ गहराई से काम किया। वयस्कों व बच्चों के साथ जुड़कर काम करने में विशेष रुचि।

सभी फोटो: यशस्वी द्विवेदी।

